

ब्रिटिश शासक की प्रशासनिक नीति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

रीना कुमारी*

1818 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत से व्यापार करने की छूट मिलने के फलस्वरूप भारतीय बाजार सस्ते एवं मशीन निर्मित आयात से भर गया। दूसरी ओर, भारतीय उत्पादों के लिये यूरोपीय बाजारों में प्रवेश करना अत्यंत कठिन हो गया। 1820 के पश्चात् तो यूरोपीय बाजार भारतीय उत्पादों के लिये लगभग बंद ही हो गये। भारत में रेलवे के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

भारत में प्रारंभिक आक्रमणकारियों और ब्रिटिश साम्राज्य वादियों में मुख्य अंतर यह था कि अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रारंभिक आक्रमणकारी ने न ही भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना में परिवर्तन किया और न ही धन की निरंतर निकासी का सिद्धांत अपनाया। भारत में ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था उपनिवेशी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित हो गयी तथा भारतीय अर्थव्यवस्था की सभी नीतियाँ एवं कार्यक्रम उपनिवेशी हितों के अनुरूप बनने लगे।

ब्रिटिश शासन के प्रशासनिक नीति का हमारे अर्थव्यवस्था पर इतना प्रभाव पड़ा कि हमारा हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास इसलिये नहीं हुआ कि यहाँ कोई औद्योगिकीकरण या औद्योगिक क्रांति हुई थी बल्कि यह ह्रास अंग्रेजी माल के भारतीय बाजारों में भर जाने से हुआ क्योंकि भारतीय हस्तशिल्प अंग्रेजों के सस्ते माल का मुकाबला नहीं कर सका। लेकिन इस अवधि में यूरोप के अन्य देशों के परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग में भी गिरावट आयी पर इसका कारण वहाँ कारखानों का विकसित होना था। यह वह समय था जहाँ एक ओर भारतीय हस्तशिल्प उद्योग तेजी से पतन की ओर अग्रसर था तथा वह अपनी मृत्यु के कगार पर पहुँच गया था, वहीं दूसरी ओर इस काल में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति तेजी से अपने पैर जमा रही थी तथा देश का तेजी से औद्योगिकीकरण हो रहा था। इस समय भारतीय शिल्पकार एवं दस्तकार पर्याप्त संरक्षण के अभाव में विषम परिस्थितियों के दौर से गुजर रहे थे, वहीं नये पाश्चात्य अनुप्रयोगों तथा तकनीक ने उनके संकट को और गंभीर बना दिया।

*स्नातकोत्तर इतिहास विभाग बी०एन०एम०यू०, मधेपुरा।

ब्रिटिश सरकार की रूचि केवल लगान में वृद्धि करने तथा उसका अधिकाधिक हिस्सा प्राप्त करने में थी। इसी लालच की वजह से अंग्रेजों ने देश के कई हिस्सों में भूमि की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था लागू कर दी। इस व्यवस्था में सरकार की माँग तो स्थिर थी किंतु लगान जो जमींदार, किसान से लेता था वह परिवर्तनशील था। अतएव कालांतर में लगान की दरों में अत्याधिक वृद्धि कर दी गयी। लगान अदा न करने पर किसानों को उनकी भूमि पर अपने पुश्तैनी अधिकारों से हाथ धोना पड़ता था। सरकार द्वारा जमीन की उर्वरता बढ़ाने के लिये अत्यंत कम धन खर्च किया जाता था। जमीन्दार, जिन्हें किसानों को भूमि से बेदखल करने का अधिकार था अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते थे तथा लगान में अपने हिस्से को बढ़ाने के लिए किसानों को बेगार करने हेतु विवश करते थे। कृषि में अधिक धन लगाने हेतु सरकार की ओर से कृषकों को किसी तरह का प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। किसानों पर लगान का बोझ अधिक हो जाने पर वे सूदखोरों से ऋण लेने पर बाध्य हो जाते थे। सूदखोर जो अधिकांशतया गाँव के अनाज व्यापारी होते थे, काफी ऊँची दरों पर किसानों को ऋण देते थे तथा ऋण चुकाने हेतु उन्हें अपने उत्पाद को निम्न दरों पर बेचने हेतु मजबूर करते थे।

इस प्रकार किसानों के ऊपर सरकार, जमीन्दार एवं सूदखोरों का तिहरा बोझ होता था। अकाल एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं के समय कृषकों की समस्याएँ और भी बढ़ जाती थी। अतः ब्रिटिश शासन की नीतियों से भारतीय कृषि पर अत्यंत नाकारात्मक प्रभाव पड़ा तथा कृषकों की दरिद्रता अत्यंत बढ़ गयी।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में बड़े पैमाने पर आधुनिक उद्योगों की स्थापना की गयी, जिसके फलस्वरूप देश में मशीनी युग प्रारंभ हुआ। भारत में पहली सुती वस्त्र मिल 1853 में कावसजी नानाभाई ने बम्बई में स्थापित की। इसी प्रकार भारत की पहली जूट मिल 1855 में रिशारा (बंगाल) में स्थापित की गयी। लेकिन इस समय तक अधिकांश आधुनिक उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबंधन विदेशियों के हाथों में ही था।

भारत में मुनाफे की व्यापक संभावनाएँ, सस्ते श्रम की उपलब्धता, कच्चे तैयार माल की उपलब्धता, भारत एवं पड़ोसी देशों के बाजारों की उपलब्धता, पूँजी निवेश की अनुकूल दशाएँ, नौकरशाही द्वारा उद्योगपतियों को समर्थन देने की दृढ़ इच्छाशक्ति तथा कुछ वस्तुओं जैसे—चाय, जूट एवं मैंगनीज के आयात के लाभप्रद अवसरों के कारण भारत में तेजी से विदेशी पूँजी का प्रवाह हुआ।

ब्रिटिश शासन में भारतीय अर्थव्यवस्था के रूप में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का उदय हुआ। भारतीय व्यापारियों, बैंकरों तथा साहूकारों ने भारत में छोटे सहयोगी के रूप में अंग्रेजी व्यापारियों के वित्त से काफी धन कमाया था। अंग्रेजों की

साम्राज्यीय शोषण की नीति में उनकी भूमिका ठीक बैठती थी। भारतीय साहूकारों ने ऋण के बोझ से दबे किसानों को ऋण दिये और सरकार के भू-राजस्व संग्रहण में सहायता की। इसी प्रकार भारतीय व्यापारियों ने अँग्रेजी माल को भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों में पहुँचाया तथा भारतीय कृषि उत्पादों के निर्यात के आन्दोलन में मदद की। किंतु इस साम्राज्यीय, व्यवस्था से स्वस्थ और स्वतंत्र औद्योगिक बर्जुआ वर्ग के विकास में रुकावट आयी तथा इसका जापान तथा जर्मनी जैसे स्वतंत्र देशों से भिन्न था।

भारतीय उत्पाद का वह हिस्सा, जो जनता के उपभोग के लिये उपलब्ध नहीं था तथा राजनीति कारणों से जिसका प्रवाह इंग्लैंड की ओर हो रहा था, उसे आर्थिक निकास की संज्ञा दी गयी। दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक "पावटी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया" में सर्वप्रथम आर्थिक निकास की अवधारणा प्रस्तुत की। आर्थिक निकास के प्रमुख तत्व थे— अँग्रेज प्रशासनिक एवं सैनिक अधिकारियों के वेतन एवं भत्ते, भारत द्वारा विदेशों से लिये गये ऋणों के ब्याज, नागरिक एवं सैन्य विभाग के लिये ब्रिटेन के भंडारों से खरीदी गयी वस्तुयें, नौवहन कंपनियों को की गयी अदायगी तथा विदेशी बैंकों तथा बीमा लाभांश।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुद्धिजीवियों ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका मानना था कि अँग्रेज सरकार अत्याधुनिक कर रही है। लेकिन 1860 के पश्चात् भारतीयों में राजनीतिक चेतना का तेजी से प्रसार हुआ। भारत के कुछ राष्ट्रवादी नेताओं ने भी इसी समय साम्राज्यवादी सरकार की आर्थिक शोषण की नीतियों को सार्वजनिक किया तथा लोगों के सामने यह स्पष्ट किया कि अँग्रेज सरकार एक सुविचारित योजना के तहत भारत को लूटने की प्रक्रिया में संलग्न है।

इस बात को सभी मानते हैं कि अँग्रेजों के आने के समय भारत के निर्यात का अधिकांश भाग निर्मित वस्तुओं का था। जिनमें सस्ते से लेकर महँगे, अनेकों किस्म के सूती और रेशमी कपड़े प्रमुख स्थान प्राप्त किए हुए थे। इनके उत्पादन, केन्द्र पूरे भारत में फैले हुए थे, परंतु बंगाल, गुजरात तथा पूर्वी समुद्री तट पर कोरो मंडल क्षेत्र दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भारतीय वस्त्रों की माँग देश-विदेश में थी। भारत में आंतरिक माँग की संपूर्ण पूर्ति भारतीय उत्पादन से होती थी। इससे जाहिर है कि इतने विशाल पैमाने पर कपड़ों का उत्पादन पूर्ण विकसित कुटीर और हथकरघा उद्योग द्वारा ही संभव था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक हम पाते हैं कि न केवल भारतीय कपड़ों का निर्यात लगभग समाप्त हो गया और भारत से कच्चा, माल या अर्द्धनिर्मित वस्तुओं का ही

निर्यात होने लगा बल्कि भारत की आंतरिक माँग की पूर्ति भी इंग्लैंड में निर्मित कपड़ों से की जाने लगी। औद्योगिक ह्रास का यह स्पष्ट रूप था।

अँग्रेजों के आगमन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से तहस-नहस कर दिया। इसके कुछ परिणाम तो अच्छे हुए लेकिन अधिकांशतः परिणाम नाकारात्मक ही हुए। कृषि और उद्योग के साथ-साथ भारत के व्यापार को भी गहरी चोट पहुँची। भारत में आंतरिक व्यापार पर शुल्क काफी पुराने जमाने से राज्य की आय का एक मुख्य साधन रहा है। आंतरिक व्यापार में इस तरह बहुत सी बाधाएँ थी और ईस्ट इंडिया कम्पनी शुरू से ही इस प्रयत्न में लगी रही कि किसी तरह उसे इस आंतरिक व्यापार के शुल्क से छूट मिल जाए। 1662 में बंगाल के गर्वनर ने कंपनी को आंतरिक व्यापार निःशुल्क करने की आज्ञा दे दी पर इसके लिए कुछ शर्तें भी लगाईं। 1691 में काफी संघर्ष के बाद कम्पनी को निःशुल्क व्यापार की आज्ञा मिल गई। 1717 में फर्रुखसियर ने एक फरमान जारी किया जिसके अनुसार कंपनी की परिवहन और सीमा शुल्क की अदायगी से छुट्टी मिल गई पर केवल उन वस्तुओं के लिए जो आयात या निर्यात के लिए निर्धारित थी। इसके परिणामस्वरूप कम्पनी के आंतरिक व्यापार पर भी पूरी तरह कम्पनी के कर्मचारियों का अधिकार हो गया।

अँग्रेजी शासन के अर्थव्यवस्था का सबसे घातक प्रभाव भारतीय किसानों पर पड़ा। आत्मनिर्भर ग्राम-व्यवस्था में भूमि जोतता था, सारे गाँव के लिए फसल उगाता था और लगान के दुखदायी चाबुक से मुक्त था। अँग्रेजों ने जमीन्दारी प्रथा आरम्भ की जिससे बटाईदार किसानों तथा भूमि के मालिक किसानों का जन्म हुआ। बटाईदार किसान जमीन्दार से बटाई पर जमीन लेते थे और उन्हें जमीन्दारों को एक निश्चित लगान देना पड़ता था। इस नीति के अनुसार इंग्लैंड को यह अभीष्ट न था कि नए-नए अविष्कारों से लाभ उठाकर भारतवर्ष के उद्योग व्यवसाय का नवीन पद्धति से पुनः संगठन किया जाए। वह भारत को कृषि प्रधान देश ही बनाए रखना चाहता था, जिसमें भारत से उसे हर तरह का कच्चा माल मिले और उसका तैयार किया माल भारत खरीदें। जब कभी भारतीय सरकार ने देशी व्यवसाय को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया, तब-तब इंग्लैंड की सरकार ने उसके इस निश्चय का विरोध किया और उसको हर प्रकार से निरुत्साहित किया। जब भारत में कपड़े की मीलें खुलने लगी और भारतीय सरकार को इंग्लैंड से आनेवाले कपड़े पर चुँगी लगाने की आवश्यकता हुई, तब इस चुँगी का लंकाशायर ने घोर विरोध किया और जब उन्होंने यह देखा कि हमारी वह बात मानी न जाएगी तो उन्होंने भारत सरकार को इस बात पर विवश किया कि भारतीय मील में तैयार हुए कपड़े पर भी चुँगी लगाई जाए। जिसमें देशी मिलों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करना संभव न हो।

पब्लिक वर्क्स विभाग खोलकर बहुत सी सड़कें भी बनाई गई जिसका फल यह हुआ हुआ कि विदेशी माल छोटे-छोटे कस्बों तथा गाँवों के बाजारों में भी पहुँचने लगा। रेल और सड़कों के निर्माण से भारत के कच्चे माल के निर्यात में वृद्धि हो गई और चीजों की कीमत में जो अंतर पाया जाता था। वह कम होने लगा। खेती पर भी इसका प्रभाव पड़ा और लोग ज्यादातर ऐसी ही फसल बोने लगे जिनका विदेश में निर्यात था। यूरोपीय व्यापारी हिन्दुस्तानी मजदूरों की सहायता से हिन्दुस्तान में चाय, कहवा, जूट और नील की काश्त करने लगे।

बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक में भारतवर्ष में अँग्रेजों की बहुत बड़ी पूँजी लगी हुई थी। पिछले पचास साठ वर्षों में इस पूँजी में बहुत तेजी से वृद्धि हुई। 634 विदेशी कंपनियाँ भारत में इस समय कारोबार कर रही थीं। इनकी वसूल हुई पूँजी लगभग साढ़े सात खरब रुपया थी और 5194 कंपनियाँ ऐसी थीं जिनकी रजिस्ट्री भारत में हुई थी और जिनकी पूँजी 3 खरब रुपया थी। इनमें से अधिकतर अँग्रेजी कंपनियाँ थी। इंग्लैण्ड से जो विदेशों को जाता था उसका दशमांश प्रतिवर्ष भारत में आता था। वस्त्र और लोहे के व्यवसाय ही इंग्लैण्ड के प्रधान व्यवसाय थे और राजनीति में इनका प्रभाव सबसे अधिक था। भारत पर इंग्लैण्ड का अधिकार बनाए रखने में इन व्यवसायों का सबसे बड़ा स्वार्थ था। क्योंकि जो माल ये बाहर रवाना करते थे उसके लगभग पंचमांश की खपत भारतवर्ष में होती थी। भारत का जो माल विलायत जाता था उसकी कीमत भी कुछ कम नहीं थी। इंग्लैण्ड प्रतिवर्ष चाय, जूट, रूई, तिलहन, ऊन और चमड़ा भारत से खरीदता था। यदि केवल चाय का विचार किया जाए तो 36 करोड़ रुपया होगा। इन बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैण्ड का भारत में आर्थिक लाभ बढ़ता गया त्यों-त्यों उसका राजनीतिक स्वार्थ भी बढ़ता गया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- (1) डॉ० आर० एन० अग्रवाल – हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास, मेट्रो पॉलिटन बुक कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड; दिल्ली
- (2) नरेन्द्र चन्द्रा – समाजशास्त्र, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन
- (3) बी० एल० ग्रोबर व एस० ग्रोबर – मॉडर्न इंडियन हिस्ट्री – एस चंद पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।
- (4) जे० के० चन्द, तारा (1972) – भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, राजीव प्रकाशन, नई दिल्ली।
- (5) एस० के० भोगल (1977) – लोकल गवर्नमेंट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया, परिमल प्रकाशन; औरंगाबाद

- (6) वी० वी० मजूमदार (1966) – मिलिटेन्ट नेशनलिज्म इन इण्डिया एण्ड इट्स सोशियो रिलीजियस बैकग्राउण्ड, 1897–1917
- (7) रजनी कोठारी – पॉलिटिक्स इन इंडिया; ओरिएण्टल ब्लैकस्वान
